

VRI Series No. 113

# धर्म का सही मूल्यांकन

सत्यनारायण गोयन्का



विपश्यना विशोधन विन्यास,  
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२ ४०३,  
महाराष्ट्र, भारत

## विपश्यना: एक परिचय

श्री गोयन्काजीने म्यंमा के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन १९५५ में 'विपश्यना' की साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन १९६९ में भारत आये। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाशग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर **विपश्यना** साधना-विधि के दस दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन १९७६ में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात अब तक पूरे विश्व में लगभग ५० विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं तथा अन्य नए-नए केंद्र खुलते चले जा रहे हैं, जहां साधकों के लिए निःशुल्क निवास तथा भोजनादि की स्थाई व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा खर्च कृत्त साधकों के दान पर निर्भर होता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयन्काजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्व भर के लगभग ४०० से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। शिविर-कालके दौरान साधकोंको बाहरी संपर्क से दूर, केंद्रों पर ही रहना अनिवार्य होता है।

भगवान गौतम बुद्ध द्वारा गवेषित 'विपश्यना' विद्या सर्वथा संप्रदायहीन एक प्रयोग प्रधान विधा है जिसमें अपने भीतर की सच्चाई का दर्शन करते हुए अपने मन को निर्मल बनाना तथा ऋतयानी प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण करने का अभ्यास किया जाता है। इसी को धर्म कहते हैं। कालांतर में हम **धर्म** शब्द का सही अर्थ भूल गये और संप्रदाय को ही धर्म मानने लगे। आज जबकि धर्म के नाम पर चारों ओर इतनी अराजकता फैली हुई है, यह सांप्रदायिकता-विहीन विद्या घोर अंधकार में प्रकाश-स्तंभ सदृश है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग - चाहे वे हिंदू हों या मुस्लिम; जैन, ईसाई, बौद्ध हों या सिक्ख - सभी आते हैं। बच्चों से लेकर वृद्ध बुजुर्गों तक सब उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊंची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी आते हैं तो दूसरी ओर बिल्कुल निरक्षर अनपढ़ लोग भी आते हैं। अत्यंत धन-संपन्न भी आते हैं और बिल्कुल धनहीन भी। पुरुष-नारी तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापार-उद्योगों के संचालक सभी आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम आसानी से देखा जा सकता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग लाभान्वित होते हैं।

पूज्य श्री गोयन्काजी का यह लेख अधिक से अधिक लोगों को धर्म-मार्ग पर चल सकने के लिए प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हो, यही मंगल भावना है।

## विपश्यना विशोधन विन्यास.

मूल्य: रु. १/-

प्रकाशक :

### विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२४०३, जिला- नाशिक, महाराष्ट्र, भारत

फोन: ०२५५३- २४४०७६, २४४०८६, २४४३०२ फैक्स: ०२५५३- २४४१७६.

## धर्म का सही मूल्यांकन

धर्म का सही मूल्यांकन करना सीखें। यदि सही मूल्यांकन करते रहेंगे तो दृष्टि सम्यक रहेगी, नीर-क्षीर विभाजन-विवेक कायम रहेगा, धर्म-पथ पर अपना संतुलन बनाए रख सकेंगे। अन्यथा धर्म का कोई एक अंग आवश्यकता से अधिक महत्त्व पाकर धर्म-शरीर की सर्वांगीण उन्नति में बाधक बन जायगा। सम्यक दृष्टि यही है कि जिसका जितना मूल्य है उसको उतना ही महत्त्व दें। न अधिक, न कम। कंकड़-पत्थर, कांच, हीरा, मोती, नीलम, मणि सबका अपना-अपना महत्त्व है। मिट्टी, लोहा, तांबा, पीतल, चांदी, सोना, सबका अलग-अलग मूल्य है। जिसका जितना महत्त्व है उसका उतना ही मूल्य है। लोकीय क्षेत्र में कांच और हीरे का, मिट्टी और सोने का एक जैसा मूल्यांकन नहीं किया जाता। इसी प्रकार धर्म के क्षेत्र में सब धान पांच-पैसेरी नहीं तोले जाने चाहिए। टके सेर भाजी, टके सेर खाजा का अविवेकी मूल्यांकन नहीं होना चाहिए। अन्यथा या तो किसी निस्सार छिलके को ही धर्म मान बैठेंगे अथवा धर्म के किसी नन्हे से प्राथमिक कदम को ही सब कुछ मान कर शुद्ध धर्म की उच्चतम अवस्थाएं कभी प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

मसलन, दान देना अच्छा है। धर्म का एक अंग है। परंतु धर्म की कसौटी पर दान का भी अलग-अलग मूल्यांकन होना चाहिए। वित्तीय नहीं, नैतिक। दान अधिक है या कम इसका कोई महत्त्व नहीं होता। परंतु देते समय चित्त की चेतना कैसी है, यही ध्यान देने की बात है। यदि उस समय चित्त में क्रोध या चिड़चिड़ाहट या घृणा या द्वेष या भय या आतंक या बदले में कुछ प्राप्त करने की तीव्र लालसा है या यश की प्रबल कामना है अथवा प्रतिस्पर्धा का उत्कट भाव है तो ऐसा दान शुद्ध, निष्काम, निरहंकार चित्त से दिये गए दान की अपेक्षा बहुत हल्का है। भले मात्रा में अधिक क्यों न हो। शुद्ध चित्त से दिये गए दान का अधिक महत्त्व है। इससे अपरिग्रह और त्याग धर्म पुष्ट होता है। पर इसके महत्त्व की भी अतिरंजना कर इसे ही सब कुछ मान बैठें तो धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना होगी और वे कमजोर रह जायेंगे।

इसी प्रकार उपवास भी धर्म का एक अंग है। हम उपवास द्वारा शरीर को स्वस्थ रखते हैं। स्वस्थ शरीर से ही धर्म का सुगमतापूर्वक पालन किया जा सकता है। शारीरिक स्वास्थ्य के अतिरिक्त मानसिक संयम के लिए भी उपवास उपयोगी है। उपवास करें और मन भिन्न-भिन्न पदवानों में रमता रहे तो ऐसा उपवास हीन कोटिका होगा। उपवास करें और केवल शरीर को ही नहीं, बल्कि मन को भी संयमित करें तो उपवास उच्च कोटिका होगा। हीन कोटिकी तो बात ही क्या, उच्च कोटिके उपवास का भी अतिरंजित मूल्यांकन करने से ही सब कुछ मान बैठेंगे तो अहंभाव के शिकार हो जायेंगे और धर्म के उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण अंग अछूते या कमजोर रह जायेंगे। उनका अभ्यास करना तो दूर की बात रही, उन्हें पुष्ट करने की बात भी हम कभी नहीं सोचेंगे।

उपवास करने वाला शील-सदाचार के क्षेत्र में दुर्बल हो तो उपवास करने वाले शीलवान व्यक्ति से हीन है। इसी प्रकार सामिष भोजन से निरामिष भोजन, चटपटे मिर्च-मसाले वाले राजसी भोजन से सादा सात्विक भोजन करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है, उत्तम है। परंतु सात्विक निरामिष भोजन करने वाला व्यक्ति इसी एक गुण के कारण अपने आपको अन्य सभी से श्रेष्ठ मानने लगे तो मिथ्या अहं के कारण शुद्ध धर्म के उन्नतिपथ से भटक जायगा। भोजन में मात्रा और गुण होना, यानी उतना ही और वैसा ही भोजन करना जितना और जैसा कि हमारे शरीर के लिए उपयोगी और आवश्यक है - धर्म का एक अच्छा अंग है। परंतु धर्म के उससे भी अच्छे और ऊंचे अंग हैं, ऐसा नहीं जानेंगे तो उनसे वंचित रह जायेंगे।

अपना अधिक अंश समय आलस्य, प्रमाद, तंद्रा में गँवाने वाले व्यक्ति की अपेक्षा यथावश्यक कम से कम समय सोकर, अधिक से अधिक समय जागरूक रहने वाला व्यक्ति निश्चितरूप से अधिक अच्छा है। परंतु ऐसे व्यक्ति को भी धर्म-पथ की आगे की बहुत-सी मंजिलें प्राप्त करनी होती हैं, इसे वह न भूल जाय।

तहलना, दौड़ना, तैरना, व्यायाम करना और इसी तरह आसन, प्राणायाम करना, शरीर को स्वस्थ और फुर्तीला बनाये रखने के लिए आवश्यक है, लाभदायक है। इसी प्रकार रोज नहाना, शरीर को स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना अच्छा है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में इनका अपना महत्त्व है, अपना मूल्य है। परंतु केवल इन्हीं को संपूर्ण धर्म मान बैठें और शरीर की बाहरी सफाई में ही लगे रह कर भीतरी सफाई रोक दें तो अपनी हानि ही होगी।

कोई व्रत पालन करता है तो इसलिए कि मन संयमित, निगृहीत, सबल, सुदृढ़ हो, धर्म-मार्ग पर अविचल आरूढ़ हो। परंतु इन व्रतों को ही सब कुछ मान बैठें तो ये ही बंधन बन जायेंगे। कोई माला फेरता है और मन ही मन कि सी मंत्र का जाप करता है तो मन को एक अग्र करने के लिए ही। परंतु मन की एक अग्रता का जरा भी अभ्यास करें नहीं और यंत्रवत माला फेरने और मंत्र जपने की रूढ़ि को ही धर्म मान बैठना भटकाव है।

कोई मंदिर जाकर अपने उपास्य देव की मूर्ति के दर्शन करता है। इससे उसके मन में श्रद्धा जागती है। श्रद्धा से मन में सौमनस्य जागता है। सौमनस्य चित्त को एक अग्र करने में सहायक होता है। अपने उपास्य देव की मूर्ति खुली आंखों से देखता है और फिर आंख मूंद कर बार-बार उसका ध्यान करता है। इस अभ्यास द्वारा वह आकृति बंद आंखों के सामने भी आने लगती है। इस प्रकार चित्त को एक अग्र करने का एक साधन प्राप्त हो जाता है। आकृतिक ध्यान करते-करते अपने उपास्य देव के गुणों का ध्यान करने लगता है और उन गुणों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करने लगता है। यह सचमुच कल्याणकारी है। परंतु यह सब तो करने नहीं, केवल मंदिर जाने और मूर्ति के सामने यंत्रवत सिर झुकाने को ही संपूर्ण धर्म मान ले तो वह गलत मूल्यांकन के कारण रूढ़ियों में उलझना है।

इसी प्रकार भजन-कीर्तन तल्लीनता के लिए हैं। चित्त को एक अग्र करने के साधन हैं। परंतु इन्हें इससे अधिक कुछ और मानने लगे तो फिर भुलावे में पड़ जाते हैं। कि सी

गुरु या संत का दर्शन, उसको कि या गया नमन, उसके प्रति श्रद्धा जगाने के लिए हैं। उसके गुणों को देख कर मन में प्रेरणा जगायें और वे गुण स्वयं धारण करें, इसी निमित्त हैं। परंतु इसका इससे अधिक मूल्यांकन करने लगते हैं तो विवेक खो बैठते हैं और अंधश्रद्धा के कारण बुद्धि जड़ होने लगती है। किसी धर्मग्रंथ का पाठ करते हैं, अथवा श्रवण करते हैं तो इसलिए कि उससे हमें प्रेरणा मिले, मार्गदर्शन मिले, जिससे कि धर्म जीवन में उतार सकें। परंतु इसे भुला करके वलश्रवण, पठन को ही सब कुछ मान लेते हैं तो गाड़ी फिर मिथ्यादृष्टि के दलदल में धँस जाती है।

कोरा वाणीविलास और बुद्धिविलास धर्म नहीं है। जीवन में उतरा हुआ शील-सदाचार ही धर्म है। शील-सदाचार की भी अलग-अलग श्रेणियाँ हैं। अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य और अप्रमाद – इन शीलों में से कोई एक, कोई दो, कोई तीन, कोई चार अथवा कोई पाँचों का पालन करता है तो एक से दूसरा क्रमशः अधिक धार्मिक है। इनमें भी कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट शील का पालन इसलिए कर रहा है कि जिस परिस्थिति और परिवेश में वह जन्मा, पला और रहता है वह उस शील पालन के अनुकूल है। दूसरा व्यक्ति नितांत प्रतिकूल परिस्थिति में भी उस शील का पालन करता है, मन को वश में रखता है तो यह दूसरा व्यक्ति पहले से अधिक श्रेष्ठ है।

मन को वश में करना धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। यही समाधि है। परंतु एक व्यक्ति समाधि हासिल करने के लिए जिस आलंबन का प्रयोग करता है, वह राग, द्वेष या मोह बढ़ाने वाला हो तो वह व्यक्ति दूषित चित्त से समाधिस्थ होता है। दूसरा व्यक्ति ऐसे आलंबन अपनाता है जो कि राग, द्वेष और मोह को क्षीण करने वाले हैं, तो पहले की अपेक्षा यह दूसरा व्यक्ति अधिक उत्तम है। दूषित चित्त की एक अग्रता द्वारा मनोबल प्राप्त करके भी अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ हासिल की जा सकती हैं। इनके बल पर सामान्य लोगों को चकचौंध कर देने वाले चमत्कार प्रदर्शित किये जा सकते हैं। परंतु इसे धर्म मान लेना खतरनाक है। यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति ने सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं, वह धर्मवान हो। अनेक दुःशील व्यक्ति चमत्कार प्रदर्शित करते हुए देखे जाते हैं। अतः चमत्कारों के आधार पर धर्म का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। करते हैं तो मूल्यांकन गलत होता है। समाधि के साथ शील की भूमिका अनिवार्य है।

शुद्ध समाधि के मार्ग पर भी विभिन्न उपलब्धियाँ होती हैं। कभी-कभी लगातार तीन घंटे एक आसन पर बैठे रह जाते हैं। परंतु आसन-सिद्धि साधना का अंतिम लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार एक अग्रता के अभ्यास के दौरान कभी-कभी बंद आंखों के सामने हम प्रकाश, ज्योति, रूप, रंग, आकृतियाँ, दृश्य आदि देखने लगते हैं। कभी-कभी कानों से कोई अपूर्व शब्द सुनते हैं, नाक से कोई अपूर्व गंध सूँघते हैं, जीभ से कोई अपूर्व रस चखते हैं, शरीर से किसी अपूर्व स्पर्श का अनुभव करते हैं और इन भिन्न-भिन्न अतींद्रिय अनुभूतियों को दिव्य ज्योति, दिव्य शब्द, दिव्य गंध, दिव्य रस और दिव्य स्पर्श कह कर इनको आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने लगते हैं तो भटक ही जाते हैं। इसी प्रकार समाधि का अभ्यास करते हुए कभी सांस सूक्ष्म होते-होते अनायास रुक जाती है। स्वतः कुंभक होने लगता है। अभ्यास करते-करते विचारों और वितर्कों का तांता मंद पड़ने लगता है और कभी निर्विचार, निर्विकल्प अवस्था आ जाती है। एक अग्रता बढ़ती

है तो भीतर प्रीति-प्रमोद जागता है। आनंद की लहरें उठने लगती हैं। मन और शरीर रोमांच पुलक से भर जाता है। बहुत हल्कापन महसूस होता है। परंतु इन भिन्न-भिन्न प्रिय अनुभूतियों को ही सब कुछ मान कर इनकी अतिशयोक्तिपूर्ण व्याख्या करने लगे तो भी भटक जाते हैं। ये अनुभूतियां इस लंबे मार्ग पर मील के पत्थरों जैसी हैं। इनमें से किसी के साथ चिपक जायें तो वह पत्थर गले का भार बन जाता है। आगे बढ़ना मुश्किल कर देता है। ये अनुभूतियां धर्मशालाएं जैसी हैं। इनमें से किसी को अंतिम लक्ष्य मान कर उसमें टिक जायें तो आगे के रास्ते पर चलना ही नहीं हो सकता। यात्रा बंद हो जाती है। पहले से लेकर आठवें ध्यान तक की सभी समाधियां एक से एक अधिक उन्नत हैं। परंतु आठों ध्यानों में पारंगत हो जाने पर भी आध्यात्मिक क्षेत्र में संपूर्णता नहीं मानी जाती। आठों समाधि समापत्तियों की सहज अनुभूति करने वाले साधक को भी प्रज्ञावान होना नितांत आवश्यक है।

प्रज्ञावान प्रज्ञावान में भी भेद है। कोई प्रज्ञावान ऐसा है जिसने श्रुतमयी प्रज्ञा हासिल की है; यानी पढ़-सुन कर प्रज्ञा की जानकारी प्राप्त की है। दूसरा ऐसा है जिसने चिंतनमयी प्रज्ञा भी हासिल की है यानी जो पढ़ा-सुना उसे चिंतन-मनन द्वारा बुद्धि की कसौटी पर कसकर युक्तिसंगत मान कर ही स्वीकार किया है। पहले से दूसरा प्रज्ञावान निश्चित रूप से उत्तम है। परंतु पहले और दूसरे से वह तीसरा प्रज्ञावान कहीं अधिक उत्तम है जो कि भावनामयी प्रज्ञा हासिल करता है; यानी प्रत्यक्ष अनुभूतियों के बल पर स्वयं अपनी प्रज्ञा जगाता है।

हमने अपनी भावनामयी प्रज्ञा जागृत की है अथवा परायी प्रज्ञा के बल पर केवल बुद्धिरंजन किया है, इसकी स्वयं जांच करते रहना चाहिए। प्रज्ञा के नाम पर यदि केवल बुद्धिरंजन हुआ होगा तो जीवन की विषम परिस्थितियों में मन उत्तेजित, उद्वेलित हुए बिना नहीं रहेगा। भावनामयी प्रज्ञा का जितना अभाव होगा, मानसिक असमता उतनी ही अधिक होगी। भावनामयी प्रज्ञा के बल पर जो व्यक्ति, वस्तु, स्थिति, जैसी है उसको जब हम वैसे ही, उसके सही स्वरूप में और उसके सही गुण-धर्म-स्वभाव में देखते हैं तो अपने मन का संतुलन बिगड़ने नहीं देते। अंतर्मन में समाई हुई दौर्मनस्य की विभिन्न ग्रंथियां स्वतः खुलने लगती हैं। चित्त के दूषण दूर होते हैं। उसमें निर्मलता आती है। निर्मलता आती है तभी संकीर्णता के स्थान पर उदारता, दुर्भावना के स्थान पर सद्भावना, द्वेष के स्थान पर प्यार, ईर्ष्या के स्थान पर मोद और वैर के स्थान पर मैत्री जागती है। ये सारे सद्गुण जीवन में आ रहे हैं या नहीं? हमारे रोजमर्रा के व्यवहार में प्रकट हो रहे हैं या नहीं? इसी मापदंड से धर्म के क्षेत्र में हम अपनी उन्नति को मापें। जैसे-जैसे प्रज्ञा में स्थित होते जायेंगे वैसे-वैसे स्वभाव से शील पुष्ट और समाधि सुदृढ़ होती जायगी। मन वश में रहने लगेगा। सदाचार जीवन का सहज-स्वभाव बन जायगा। उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अपने अंधे स्वार्थ के लिए औरों की हानि करने की संकीर्ण बुद्धि दूर होगी। अपने सुख-साधन औरों में बांट कर भागीदारी बनाने की दानवृत्ति सहजभाव से जीवन का अंग बन जायगी। इस प्रकार जैसे-जैसे धर्म की सर्वांगीण पुष्टि होने लगेगी, वैसे-वैसे अनेक रूढ़ियां जो कभी धर्म-साधन के रूप में प्राप्त हुई थीं और जिन्हें कि नासमझी के कारण हमने सिद्धि मान कर छाती से चिपका

लिया था, वे सांप की केंचुली की तरह बिना किसी कष्ट और प्रयास के अपने आप छूटती चली जायेंगी। और जो नई त्वचा आयेगी वह निष्प्राण नहीं बल्कि सजीव धर्म से ऊर्मिल होकर आयेगी।

त्वचा का अपना महत्त्व है। परंतु निष्प्राण हो जाय तो भी उसे चिपकाये रखना नासमझी है। छिलकों का अपना महत्त्व है। परंतु उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाय तो भी मोहवश उन्हें चिपकाये रखना नासमझी है। शुद्ध प्रज्ञा पुष्ट होती है तो हर वस्तु का उचित ही मूल्यांकन होता है। लुभावने तर्क जाल से प्रभावित होकर किसी उपयोगी वस्तु को नष्ट नहीं कर देते और न ही परंपराओं के प्रति भावावेशमयी आसक्तियों के कारण किसी निकम्मी वस्तु को गले से लगाये रखते हैं। पुष्ट हुई प्रज्ञा से ऐसा विशुद्ध विवेक जागता है जिसमें न थोथा तर्क जाल टिक सकता है और न अंध भावावेश। धर्म के प्रत्येक अंग का सही-सही मूल्यांकन होने के कारण धर्म का सर्वांगीण और समुचित विकास होने लगता है।

सर्वांगीण और समुचित विकास हो तो हम अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं। शरीर का कोई एक ही अंग जरूरत से ज्यादा विकसित हो जाय और बाकी सारा शरीर अविकसित रह जाय तो सारे शरीर के साथ-साथ वह विकसित अंग भी रोगी ही माना जाता है। इसी प्रकार धर्म शरीर का भी कोई एक अंग इतना अधिक विकसित हो जाय कि अन्य सभी अंगों के विकास में रुकावट पैदा कर दे तो संपूर्ण धर्म-शरीर तो रोगी ही जाता है वह अंग-विशेष भी रुग्ण ही माना जाता है। अतः समग्र धर्म-शरीर को स्वस्थ सबल रखने के लिए आवश्यक है कि धर्म के सभी अंगों का समुचित विकास हो। इस निमित्त सभी अंगों का विवेकपूर्वक समुचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है।

माला, तिलक जैसे बाह्याडंबर, नदी-स्नान, तीर्थाटन जैसे बाह्य कर्मकांड अथवा आत्मवाद अनात्मवाद जैसी बुद्धिरंजनीय दार्शनिक मान्यताएं आदि की तो बात ही क्या, यदि हम एक अच्छे व्रत का पालन करते हुए अथवा किसी शील का पालन करते हुए उसकी भी अतिरंजना करने लगे तथा शुद्ध धर्म के अन्य अंगों की अवहेलना करते हुए उसी से परामर्श यानी चिपकाव करने लगे तो यही शील-व्रत परामर्श हमारे लिए भयंकर रोग साबित हो जाय। इससे बचने के लिए और शुद्ध धर्म के सर्वांगीण और समुचित विकास के लिए हर बात का सही-सही उचित-उचित मूल्यांकन होते रहना आवश्यक है। धर्ममय मंगल-जीवन की यही कल्याण कुंजी है।